Conclusion

उपसंहार

✵ उपसंहार : ✵

मोहन राकेश स्वातंत्र्योत्तर भारत के उन रचनाकारों में से हैं, जिन्होंने अपनी रचनाओं के माध्यम से हिन्दी लेखन को दायित्वपूर्ण रचनात्मक क्रियाकलाप के रूप में प्रतिष्ठित किया एवं उसे व्यापक स्वीकृति दिलाई। अपने नाटकों के माध्यम से उन्होंने न केवल हिन्दी नाटक और रंगमंच को एक नई दिशा दी, बल्कि भारतीय नाट्य परंपरा में उसे महत्त्वपूर्ण स्थान पर प्रतिष्ठित भी किया। उनके नाटकों ने हिन्दी रंगादोलन को तो एक अभूतपूर्व गति और समृद्धि प्रदान की ही है, साथ ही हिन्दी नाटककारों की भावी पीढ़ी के लिए प्रेरणास्रोत का कार्य भी किया है।

राकेश से पहले भी हिन्दी में श्रेष्ठ नाटकों की परंपरा विद्यमान थी, लेकिन यह परंपरा रंग-आंदोलन का रूप नहीं ले सकी थी। सर्व प्रथम भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने अपने नाटकों के माध्यम से आधुनिक हिन्दी रंगकर्म को ठोस और सही दिशा प्रदान की। उन्होंने नाटक को न केवल युगीन समस्याओं और राष्ट्रीय आंदोलन से जोड़ा बल्कि नाटक और रंगमंच के अन्योन्याश्रित संबंध को समझते हुए नाट्य रचना की। लेकिन भारतेन्दु की मृत्यु के साथ ही हिन्दी नाट्य - लेखन की यह सक्रिय परंपरा शिथिल पड़ गई और उसके स्थान पर एक अन्य परंपरा विकसित हुई, जिसके प्रतिनिधि थे जयशंकर प्रसाद। पारसी नाटकों की प्रतिक्रिया में लिखे गये इन नाटकों में सूक्ष्म जटिल संवेदना, काव्यात्मकता, दार्शनिकता एवं कलात्मकता के दर्शन तो अवश्य होते हैं, लेकिन इनमें रंगमंच के साथ नाटकों का बुनियादी संबंध कायम नहीं रखा जा सका, जिसकी परंपरा भारतेन्दु ने प्रारंभ की थी। जिस प्रकार भारतेन्दु द्वारा स्थापित नाट्य - परंपरा उनकी मृत्यु के साथ ही शिथिल पड़ गई, उसी प्रकार प्रसाद की नाट्य चेतना को भी सर्जनात्मक एवं संगठित रंग-आंदोलन के रूप में विकसित नहीं किया जा सका। यद्यपि प्रसाद युग में बहुत सारा नाट्य साहित्य लिखा गया, लेकिन उसमें मानवीय संवेदना और नाट्य भाषा का वह सर्जनात्मक रूप नहीं मिलता, जो प्रसाद के नाटकों की मुख्य विशेषता है। प्रसादोत्तर हिन्दी नाटको में विविध प्रकार की धाराएँ मिलती हैं, फिर भी लक्ष्मीनारायण मिश्र और उपेन्द्रनाथ अश्क इस दौर के उल्लेखनीय नाटककार हैं। लक्ष्मीनारायण मिश्र ने नाटकों को समकालीन यथार्थ से जोड़कर उसे सामान्य व्यक्ति की समस्याओं के चित्रण का माध्यम बनाया। लेकिन पूर्व निर्धारित स्थापनाओं के कारण इनके नाटकों में न तो जीवंत पात्र हैं, न ही संवेदनशील मानव-स्थितियाँ और न ही नाट्यानुभूति से संपन्न भाषा। उपेन्द्रनाथ अश्क के नाटकों में रंगमंचीय संभावना अवश्य निहित है, लेकिन कथ्य सतही होने के कारण इनमें भी अन्तर्वस्तु और शिल्प का रचनात्मक संश्लेषण दृष्टिगोचर नहीं होता है। उपेन्द्रनाथ अश्क के अलावा भुवनेश्वर और लक्ष्मीनारायण लाल के नाटक भी राकेश की रचनाओं से पहले ही आ चुके थे। ये नाटक मध्यवर्गीय स्त्री-पुरूष संबंधों के उद्‌घाटन की दृष्टि से अत्यंत उल्लेखनीय हैं। लेकिन इन नाटकों में विचारों और

चरित्रों के बीच तादात्म्य का अभाव है। चरित्रों में आंतरिक और बाह्य संगति के अभाव के कारण ये प्रायः यांत्रिक जान पड़ते हैं। हिन्दी नाटक और रंगमंच की परंपरा में अगला महत्वपूर्ण पड़ाव जगदीशचन्द्र माथुर के नाटक हैं। 'कोर्णाक' इस दृष्टि से सर्वाधिक उल्लेखनीय नाटक है, जिसमें कलाकार और राजसत्ता के बीच संघर्ष को अत्यंत प्रामाणिक रूप से अभिव्यक्त किया गया है। लेकिन काव्यात्मक भाषा एवं लोकनाट्य परंपरा की अनेक युक्तियों से समन्वित होने के बावजूद इसमें रूप और कथ्य का अनिवार्य संयोजन नहीं हैं, जिससे यह श्रेष्ठ कलात्मक उपलब्धि के सोपान तक पहुँचते-पहुँचते रह जाता है। धर्मवीर भारती का प्रसिद्ध काव्य नाटक 'अंधायुग' का प्रकाशन भी राकेश के नाटकों से पहले हो चुका था, जो काव्य और नाटक के रचनात्मक संश्लेषण के कारण 'क्लासिक' रचना बन जाती है। इस नाटक की सबसे बड़ी विशेषता है- मिथकीय चरित्रों की मूल अवघारणा को नष्ट किए बिना उन्हें आधुनिक आयाम प्रदान करना। कथ्य के अनुरूप ही 'अंधायुग' का नाट्य शिल्प भी सर्वथा मौलिक एवं कलात्मक सौंदर्य से युक्त है। लेकिन इन सब विशिष्टताओं से युक्त होने के बावजूद भी 'अंधायुग' अपने ढंग का अकेला नाटक होकर रह गया और हिन्दी नाटक और रंगमंच पर उसका प्रभाव बहुत कम पड़ा। इस संदर्भ में प्रसिद्ध नाट्य समीक्षक श्री नेमिचन्द्र जैन की टिप्पणी उल्लेखनीय है :

"उसका प्रभाव नाटक और रंगमंच पर बहुत कम पड़ा और पड़ा भी तो कुछ बाद में ही उजागर हुआ- अपने विशेष रूपबंध और शैली के कारण उसका इतना व्यापक होना संभव भी न था।"[1]

इस प्रकार स्पष्ट है कि यद्यपि मोहन राकेश से पहले भी हिन्दी रंगकर्म की सुदृढ़ परंपरा विद्यमान थी, लेकिन इसे एक आंदोलन के रूप में परिवर्तित करने का श्रेय उन्हें ही जाता है। राकेश के पहले भी हिन्दी में अनेक उत्कृष्ट और महत्वपूर्ण नाटक लिखे जा चुके थे, लेकिन इन सबके बावजूद 1958 में प्रकाशित उनका नाटक 'आषाढ़ का एक द्रिन' आधुनिक हिन्दी नाटक और रंगमंच के इतिहास में मील का पत्थर साबित हुआ। दरअसल यह नाटक स्वाधीनता के बाद प्रारंभ होनेवाले नए रंग आंदोलन की शुरूआत का सबसे पहला और महत्वपूर्ण प्रमाण है। ऐतिहासिक कथा एवं चरित्रों का आधुनिक उपयोग, कथ्य एवं शिल्प का रचनात्मक सामंजस्य, बाह्य और आंतरिक यथार्थ की प्रभावशाली अन्विति, पात्रों के अंतर्द्वन्द्व को अभिव्यक्त करती हुई संवाद-योजना, गहरी नाट्यानुभूति और काव्यात्मकता से संपन्न नाट्य भाषा, स्वतः संपूर्ण रंग-संकेत तथा प्रतीकात्मकता, बिम्बात्मकता एवं विसदृशता (Contrast) जैसी अनेक नाटकीय युक्तियों से समन्वित इस नाटक ने हिन्दी रंगकर्म को गंभीर एवं दायित्वपूर्ण कला माध्यम के रूप में व्यापक प्रतिष्ठा दिलाने का कार्य किया। 1958 में संगीत नाटक अकादमी द्वारा 'आषाढ़ का एक दिन' को एक ओर सर्व-श्रेष्ठ नाटक के लिए पुरस्कृत किया जाता है तो दूसरी ओर राष्ट्रीय विद्यालय में निदेशक के तौर पर आए प्रसिद्ध रंगकर्मी इब्राहिम अल्काजी द्वारा सर्वप्रथम इसी नाटक का चुनाव और स्मरणीय प्रदर्शन भी होता है। इसके पहले ही इस नाटक के आरंभिक प्रदर्शन

लखनऊ, कलकत्ता और इलाहाबाद में किए जा चुके थे। अतः स्पष्ट है कि इस नाटक ने न केवल हिन्दी नाटक और रंगमंच को व्यापक प्रतिष्ठा एवं स्वीकृति दिलाई, बल्कि अपनी बहुसंख्यक एवं वैविध्यपूर्ण प्रस्तुतियों से हिन्दी रंगकर्म को महानगरों के सीमित दायरे से आगे बढ़कर छोटे-बड़े शहरों तथा कस्बों में फैलाने का ऐतिहासिक कार्य भी किया।

1963 में प्रकाशित 'लहरों के राजहंस' राकेश का दूसरा महत्वपूर्ण नाटक है, जिसे 'आषाढ़ का एक दिन' जैसी अभूतपूर्व सफलता भले ही न मिल पाई हो, लेकिन उसने हिन्दी नाट्य परंपरा को समृद्ध कर नए रंगादोलन को गति अवश्य प्रदान की है। यद्यपि रूपबंध के स्तर पर यह 'आषाढ़ का एक दिन' जैसा सुगठित नाटक नहीं है, फिर भी कुछ अंशों में यह राकेश की प्रारंभिक उपलब्धियों को अधिक सूक्ष्म और गहरा करता है। 'आषाढ़ का एक दिन' की भाषा नाट्यानुभूति से संपन्न होते हुए भी कहीं- कहीं भारी शब्द समूह से बोझिल है, जिससे बचकर 'लहरों के राजहंस' की भाषा अधिक सहज, सरल और हरकत भरी है। 1968 में इसके परिवर्तित रूप की लेखन-प्रक्रिया ने नाटककार और निर्देशक के रचनात्मक संबंधों तथा रंग-प्रक्रिया में उनकी भूमिका जैसे ज्वलंत मुद्दों को भी अभिव्यक्त किया।

1969 में राकेश का तीसरा महत्वपूर्ण नाटक 'आधे अधूरे' प्रकाशित हुआ, जिसने रंगमंच, रेडियो, दूरदर्शन और सिनेमा - सभी प्रस्तुति माध्यमों पर अपार सफलता के द्वारा उन्हें हिन्दी के अग्रणी नाटककार और नए रंगादोलन के पुरोधा के रूप में स्थायी तौर पर स्थापित कर दिया। इसने हिन्दी नाटक एवं रंगमंच को नया स्तर एवं उँचाई प्रदान की । देश-विदेश में होनेवाले इसके बहुसंख्यक प्रदर्शनों ने जहाँ एक ओर शौकिया रंगमंच को विस्तार दिया, वहीं दूसरी ओर प्रशिक्षित रंगकर्मियों के लिए नियमित अर्ध व्यावसायिक एवं व्यावसायिक रंगमंच की संभावना भी उत्पन्न की। दिल्ली की नाट्य संस्था 'दिशान्तर' तथा कलकता की 'अनामिका' ने अपने नियमित नाट्य प्रदर्शन की शुरूआत इसी नाटक से की । यही नहीं- दिल्ली दूरदर्शन से 'थियेटर टुडे' नामक नाट्य प्रदर्शन की श्रृंखला का आरंभ भी 'आधे-अधूरे' से ही हुआ। यह एक निर्विवाद तथ्य है कि समकालीन भारतीय नाट्य रचनाओं में यह सर्वाधिक मंचित, चर्चित और प्रशंसित नाटकों में से एक है। इसने साहित्यिक और रंगमंचीय नाटक जैसे भ्रामक वर्गीकरण को ध्वस्त कर हिन्दी रंगकर्म को एक स्वस्थ धरातल पर प्रतिष्ठित किया।

'आधे-अधूरे' से पहले ही मोहन राकेश ने एक अन्य नाटक पर कार्य प्रारंभ कर दिया था, जो उनकी मृत्यु के बाद 'पैर तले की जमीन' नाम से प्रकाशित हुआ। मृत्यु से पहले वह केवल पहला अंक और दूसरे का कुछ अंश ही लिख पाए थे, जिसे बाद में उनके अभिन्न मित्र कमलेश्वर ने पूरा कर प्रकाशित करवाया। इस अधूरेपन के बावजूद, नाटक का पहला अंक नाटकीय संभावना से परिपूर्ण है। उसकी भाषा में एक प्रकार की ताजगी है जो मूलतः शब्दों और ध्वनियों के प्रयोग पर आधारित है।

पूर्णकालिक नाटकों के अलावा मोहन राकेश ने अनेक एकांकियों, बीज नाटकों, ध्वनि नाटकों और 'छतरियाँ' नामक एक पार्श्व नाटक की भी रचना की, जो उनकी बहुस्तरीय नाट्य प्रतिभा का परिचय देते हैं। एकांकियों में न केवल मध्यवर्ग की मानसिकता और उससे जुड़ी विविध समस्याओं का प्रामाणिक चित्रण किया गया है, बल्कि 'उसकी रोटी' तथा 'सिपाही की माँ' जैसी ग्रामीण परिवेश पर आधारित एकांकियों में नयी जमीन तलाशने का प्रयास भी किया गया है। इन दोनों एकांकियों में स्त्री की पीड़ा और संघर्ष को एक विशिष्ट धरातल पर प्रस्तुत किया गया है। पार्श्व नाटक 'छतरियाँ' तथा बीज नाटक 'शायद' और 'हं :! ' के माध्यम से राकेश ने शब्द और ध्वनियों के संयोजन और विखंडन संबंघी विविध प्रयोग किए हैं, जो रचनाकार की निरंतर प्रयोगशील दृष्टि का अहसास कराते हैं।

इन नाटकों में टूटे-फूटे वाक्यों, असम्बद्ध संवादों, अंतरालों, प्रश्नवाचक और विरामचिन्हों तथा एक ही प्रकार की हरकत और शब्द योजना की पुनरावृत्ति द्वारा स्थिर, जड़ और ऊब भरे वातावरण को दर्शाया गया है। इनके माध्यम से राकेश ने प्रशिक्षण एवं रंग-शिविरों के नवोदित रंगकर्मियों के बीच नवीन प्रयोग और समग्र रंग-दृष्टि के प्रसार का महत्वपूर्ण दायित्व भी निभाया। इसी प्रकार व्यावसायिक फार्मूला फिल्मों के समानान्तर नयी धारा की फिल्मों के आंदोलन की शुरूआत का श्रेय भी उन्हीं की रचनाओं पर बनी 'उसकी रोटी' तथा 'आषाढ़ के एक दिन' जैसी फिल्मों को दिया जाता है। इन दोनों फिल्मों ने लगातार दो वर्ष क्रिटिक्स अवार्ड भी जीते। इस प्रकार स्पष्ट है कि रेडियो, दूरदर्शन तथा सिनेमा जैसे प्रस्तुति माध्यमों पर नाटक को लोकप्रिय बनाने में राकेश का योगदान अविस्मरणीय है। इससे न केवल नाट्य रचना की सीमा का विस्तार हुआ और उसे एक बहुत बड़ा दर्शक वर्ग मिला, बल्कि विविध प्रस्तुति माध्यमों के साथ नाटक के रोचक एवं चुनौतीपूर्ण संबंध का भी उद्घाटन हुआ। राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय द्वारा 'कहानी का रंगमंच' जैसे अपेक्षाकृत नए रंग-प्रयोगों की जो शुरूआत हुई, उस क्षेत्र में भी राकेश की अनेक कहानियों, जैसे 'मिसपाल', 'अपरिचित', 'मलबे का मालिक' तथा 'एक और जिंदगी' ने उल्लेखनीय भूमिका का निर्वाह किया है।

हिन्दी साहित्य के एक प्रमुख रचनाकार के रूप में स्वीकृति राकेश को सर्वप्रथम नयी कहानी आंदोलन के प्रमुख कहानीकार के रूप में ही मिली। उनकी कहानियों ने समकालीन हिन्दी कथा-साहित्य को अत्यन्त समृद्ध बनाया है, लेकिन बुनियादी रूप से वे एक नाटककार ही हैं। यही कारण है कि उनकी अधिकांश कहानियाँ नाटकीय संभावना से परिपूर्ण हैं। मानवीय संबंधों की जटिलता, स्थितियों की विडंबना, चरित्रों की अनिश्चितता, अस्थिरता एवं द्विविधाग्रस्त मानसिकता, नाट्यानुभूति से संपन्न अंतरंग और आत्मीय भाषा, बोलचाल की विश्वसनीय लय एवं समय के साथ टूटते-बदलते मानवीय मूल्यों की पहचान जैसी विशेषताएँ राकेश के नाटकों में ही नहीं, बल्कि उनकी कहानियों में भी मौजूद हैं। उनके कथा साहित्य में मौजूद इन विशिष्टताओं के कारण ये राकेश के नाट्य लेखन का ही पूर्वरंग प्रतीत

होती हैं। अतः यह स्वाभाविक ही है कि उनकी कहानियों पर आधारित नाटक भी अत्यंत लोकप्रिय रहे हैं। स्वयं राकेश ने डॉ. कार्लो कपोला के साथ अंतरंग भेंट में स्वीकार किया है कि - "मेरे दिमाग में ऐसे विषय हैं जो केवल कहानी या उपन्यास का रूप लिए हुए हैं, मेरे बिना किसी प्रयास के वह अकसर नाटक बन जाते हैं।"[2] संभवतः समकालीन समाज और जिंदगी में व्याप्त अनिश्चितता, हताशा और द्वंद्व की स्थिति ने उन्हें नाट्य लेखन के लिए प्ररित किया - "मैं यह जरूर महसूस करता हूँ कि हममें से बहुत से अनिश्चितता और द्वन्द्व की स्थिति में जी रहे हैं जो कि अपनी सृजनात्मक अभिव्यक्ति में नाटक - नाट्य-लेखन का रूप लेगा। मेरे विचार में अब अधिक नाटक लिखे जाएँगे और जैसा कि अभी से हो भी रहा है।"[3]

उपरोक्त वक्तव्य से स्पष्ट है कि राकेश ने जल्द ही नाटक को आज की सबसे समर्थ साहित्यिक विधा के रूप में स्वीकार कर लिया और अपने पूर्ववर्ती लेखन से अर्जित रचनात्मक कौशल का अत्यन्त कुशल एवं प्रभावशाली प्रयोग अपने नाट्य लेखन में किया। नाट्य लेखन राकेश के लिए सिर्फ एक साहित्यिक प्रक्रिया नहीं बल्कि संपूर्ण जीवन प्रक्रिया थी। अन्य नाटककारों की तरह वे सिर्फ नाटक लिखकर संतुष्ट नहीं हो जाते थे, बल्कि अपने को वे रंग-प्रक्रिया के अनिवार्य हिस्से के रूप में देखते थे। इसलिए नाटक के लेखन, रिहर्सल और प्रस्तुतीकरण अर्थात् संपूर्ण रंग-प्रक्रिया में उनकी सक्रिय हिस्सेदारी रही। उनके अनुसार रंगमंच की पूरी प्रक्रिया में नाटककार की हैसियत सिर्फ एक सम्मानित दर्शक या अभ्यागत की ही नहीं होनी चाहिए, बल्कि उसे एक अनिवार्य अंग की तरह होना चाहिए, जो निर्देशक और अभिनेता की तरह ही शब्दों के स्तर पर बार-बार प्रयोग करता रहे। नाटक और रंगमंच के अन्योन्याश्रित संबंध की पहचान तथा नाटककार, निर्देशक एवं अभिनेता के पारस्परिक सहयोग की स्वीकृति राकेश की रंगदृष्टि का महत्वपूर्ण आयाम है। कालांतर में उन्होंने निर्देशक के आरोपित आतंक और अतिरिक्त महत्व को अस्वीकार करते हुए 'नाटककार का रंगमंच' की धारणा का समर्थन किया तथा अपने रंग-संपूर्ण नाट्यालेखों के माध्यम से रंगकर्म में नाटककार की महत्वपूर्ण भूमिका को प्रतिष्ठित किया। उन्होंने शीर्षस्थ निर्देशकों और महत्वपूर्ण नाट्य-मंडलियों के साथ मिलकर भी काम किया, लेकिन एक नाटककार के रूप में उन्होंने अपनी ज़मीन और मोर्चा कभी नहीं छोड़ा। राकेश का यह ऐतिहासिक योगदान है कि रंगमंच की पूरी प्रक्रिया में नाटककार की भूमिका का उन्होंने विस्तार किया तथा उसके महत्व को दृढ़ता से स्थापित किया। उन्होंने साहित्यिक और रंगमंचीय नाटक के भ्रामक अंतर को मिटाकर एक स्वस्थ रंग-प्रक्रिया का मार्ग प्रशस्त किया, जो नाटककार, निर्देशक एवं अभिनेता के पारस्परिक सहयोग पर आधारित थी।

मोहन राकेश के नाटकों की सबसे महत्त्वपूर्ण विशेषता है : अपने समय और समाज के संवेदनों और स्पंदनों का प्रामाणिक रूप से उद्घाटन। कुछ आलोचकों ने उनके नाटकों पर आरोप लगाया है कि वे अधिकांशतः ऐतिहासिक या अर्धऐतिहासिक विषयों से संबंधित होने के कारण समकालीन जीवन से कटे हुए हैं। लेकिन राकेश के

नाटकों को पढ़ते ही यह बात स्पष्ट हो जाती है कि उपरोक्त आरोप महज़ एक पूर्वाग्रह है। नाटककार द्वारा इतिहास-कथा का उपयोग इसलिए नहीं किया गया कि इतिहास की व्याख्या की जा सके या उसके अंतराल को भरा जा सके। धर्मवीर भारती, जगदीश चन्द्र माथुर, गिरीश कर्नाड एवं मोहन राकेश द्वारा ऐतिहासिक कथा का प्रयोग केवल समकालीन परिस्थितियों के संदर्भ में ही किया गया है। यह किसी प्रकार का प्रतिक्रियावाद या पुनरुत्थानवाद नहीं है, बल्कि प्राचीन कथानक का सर्जनात्मक उपयोग है, जो आधुनिक जीवन के भावबोध को विश्वसनीय ढंग से अभिव्यक्त करता है। स्वयं राकेश ने अपनी रचनाओं के संबंध में लिखा है कि "मैंने एक शब्द भी ऐसा नहीं लिखा, जो वर्तमान से संबंधित नहों है।"[4] 'आषाढ़ का एक दिन' मूलतः ऐतिहासिक कालिदास की कथा नहीं है, बल्कि रचनाकार की द्विविधाग्रस्त मानसिकता को चित्रित करना ही उसका केन्द्रीय सराकोर है - रचनाकार, जो एक ओर राज्य या इसी प्रकार की अन्य संस्थाओं द्वारा प्रस्तावित लोभ के प्रति आकर्षित होता है तो दूसरी ओर अपने रचनाकर्म के प्रति प्रतिबद्ध भी होता है। समकालीन जीवन के कई और महत्वपूर्ण प्रश्न जैसे - सर्जनशील व्यक्ति और परिवेश, कला और प्रेम, भावना और कर्म, राजकर्मचारियों की अदूरदर्शिता एवं आर्थिक स्थिति का व्यक्ति पर पड़नेवाले प्रभाव को भी इस नाटक में बारीकी से रेखांकित किया गया है। इसी प्रकार 'लहरों के राजहंस' नाटक भी नन्द और सुन्दरी की कथा नहीं है, अपितु पार्थिव और अपार्थिव के आकर्षण के बीच विभाजित सामान्य मनुष्य की कथा है। भौतिक सुख और अध्यात्म - उनकी ओर मनुष्य हमेशा से आकर्षित होता रहा है। इसके अतिरिक्त इस नाटक में आज के मनुष्य के अनिश्चय और द्वन्द्व तथा चुनाव की पीड़ा को भी प्रामाणिक रूप से उद्घाटित किया गया है। राकेश के अन्य दो नाटक - 'आधे-अधूरे' और 'पैर तले की ज़मीन' तो सीधे तौर पर समकालीन जीवन से संबंधित हैं, अतः उनमें आधुनिक जीवन की विविध समस्याओं का चित्रण स्वाभाविक है। विशेषतः 'आधे-अधूरे' में मध्यवर्गीय जीवन की विडंबनाओं और त्रासदी को पूरी ईमानदारी के साथ व्यक्त किया गया है। आर्थिक स्थिति का संबंधों पर पड़नेवाला प्रभाव, पारिवारिक एवं सांस्कृतिक विघटन तथा स्त्री-पुरूष के बीच लगाव और तनाव जैसे मध्यवर्गीय जीवन के अनेक आयाम इसमें यथार्थवादी ढंग से उद्घाटित हुए हैं, जो इस नाटक को मध्यवर्गीय जीवन का दस्तावेज बना देते हैं। दरअसल एक नाटककार के रूप में राकेश ने अपने समय और समाज से हमेशा संवाद बनाए रखा। लेकिन उनके नाटक समकालीन परिवेश और समय से गहरे रूप से जुड़े होकर भी समयबद्ध और स्थितिबद्ध रचनाएँ नहीं है, बल्कि वे विविध मानव स्थितियों को उजागर करते हुए समय के पार देखने का साहस करती हैं। ये नाटक कालजीवी होते हुए भी मनुष्य की शाश्वत समस्याओं से जूझने का प्रयास करते हैं और इस प्रकार कालजयी रचना का गौरव प्राप्त करते हैं। इसलिए राकेश की मृत्यु के तीन दशक बाद भी ये रचनाएँ उतनी ही प्रासंगिक और जीवंत बनी हुई हैं जितना लेखक के समय में थीं। इस संदर्भ में यह तथ्य उल्लेखनीय है कि उनकी मृत्यु के बाद किए गए उनके नाटकों के प्रस्तुतीकरणों की संख्या उनके जीवनपर्यंत होनेवाले

प्रदर्शनों की तुलना में चार गुणा से भी अधिक हैं। यही नहीं उनके बीज नाटकों - 'शायद' तथा 'हंः ! ', पार्श्व नाटक - 'छतरियाँ' एवं अनेक एकांकियों के बहुसंख्यक प्रदर्शन नाटककार की मृत्यु के बाद ही हुए हैं। यह निश्चय ही राकेश के नाटकों के कालजयी होने का प्रमाण है।

मोहन राकेश ने हिन्दी रंगकर्म और नाट्य लेखन को व्यापक रूप से प्रभावित किया। आठवें दशक में रचित अधिकांश हिन्दी नाटक 'आधे-अधूरे' के प्रभाव से बुरी तरह आक्रांत हैं। यही नहीं स्त्री-पुरूष संबंधों के विविध रूपों और स्तरों के उद्घाटन के मूल में भी राकेश के नाटकों का ही असर रहा है। राकेश के बाद सबसे महत्त्वपूर्ण हिन्दी नाटककार के रूप में यदि किसी का नाम लिया जा सकता है तो वह है, सुरेन्द्र वर्मा। कथ्य, शिल्प, भाषा, संवाद, सौंदर्यबोध आदि कई दृष्टियों से सुरेन्द्र वर्मा के नाटक राकेश से काफी हद तक प्रभावित हैं। सुरेन्द्र वर्मा के नाटक 'सेतुबंध' एवं 'आठवाँ सर्ग' यदि 'आषाढ़ का एक दिन' की याद दिलाता है तो 'सूर्य की अंतिम किरण से सूर्य की पहली किरण तक' 'लहरों के राजहंस' की। इसी प्रकार 'द्रौपदी' नामक नाटक पर 'आधे-अधूरे' के प्रभाव को आसानी से लक्षित किया जा सकता है। न केवल कथ्य के स्तर पर बल्कि भाषा, संवाद और रंगशिल्प के स्तर पर भी राकेश ने हिन्दी नाटककारों की भावी पीढ़ी को गहरे रूप से प्रभावित किया है। ताज़गी लिए हुए रंगमंच पर गूँजनेवाली उनकी नाट्यभाषा पात्रों के व्यक्तित्व, मनःस्थिति एवं परिवेश के अनुसार स्वयं ढलती जाती है और इस प्रकार शब्दों में ही पूरा दृश्य सजीव हो उठता है। शब्द ही नहीं बल्कि उनके बीच का अंतराल भी अभिनय कला को विस्तार देता है और समकालीन जीवन की जटिलता और अंतर्द्वन्द्व को प्रामाणिकता के साथ उद्घाटित करता है। राकेश के नाटक इस बात के समर्थ उदाहरण हैं कि वास्तविक अभिनय शब्दों का नहीं शब्दों के बीच में होता है। इसी प्रकार उनके नाटकों में विद्यमान स्वतः संपूर्ण रंग संकेत नाट्यालेख को संपूर्णता प्रदान करते हैं।

राकेश के नाटकों पर अनेक तरह के आरोप लगाए जाते रहे हैं - राकेश के नाटक आत्मपरक हैं, उनका अनुभव-क्षेत्र सीमित है, उनका स्त्री विषयक दृष्टिकोण रोमानी और मध्ययुगीन है, उनके नाटकों का तीसरा अंक समान रूप से शब्द - बहुल और कमज़ोर है, उन्होंने कोई बड़ा या मौलिक शिल्पगत प्रयोग नहीं किया, वह अत्यधिक रंग-निर्देशों के द्वारा अभिनेता और निर्देशक को जकड़ देते हैं, उनके नाटक नियतिवादी हैं, वे अपने पाठकों-दर्शकों को कोई दिशा नहीं देते, वे समकालीन जीवन और मंच की जरूरतों को पूरा करने में असमर्थ हैं, उनके पात्र चरम साक्षात्कार से कतराते हैं इत्यादि। ये सभी आरोप बेबुनियाद न होते हुए भी सत्य की सिर्फ अधूरी तस्वीर ही पेश करते हैं। यह सच है कि राकेश के नाटकों का फलक शैक्सपीयर, ब्रैख्त या प्रसाद की तरह विराट नहीं है और वह मूलतः मध्यवर्ग पर ही केन्द्रित हैं। लेकिन इसका कारण राकेश की रचनात्मक ईमानदारी एवं मध्यवर्ग का बढ़ता हुआ असर है। इस देश के निवासी चाहे वह शहरी हों या देहाती, उच्चवर्ग के या निम्नवर्ग

के सभी पूर्णतया मध्यवर्गीय बनते जा रहे हैं। अवसरवाद, दिखावटी प्रतिष्ठा के पीछे दौड़ने एवं सभी प्रकार के भौतिक पदार्थों को जुटाने के लिए अनवरत संघर्ष - जैसी मध्यवर्गीय मानसिकता सभी वर्ग के व्यक्तियों का आदर्श बनती जा रही हैं। अतः मध्यवर्ग के माध्यम से राकेश ने देश और समाज में व्यापक रूप से फैली मनोवृत्ति को उजागर किया है। दूसरी ओर राकेश की रचनात्मक प्रतिबद्धता भी उन्हें अन्य विषयों पर कलम चलाने से रोकती रही। वे एक संपूर्णतावादी नाटककार थे और उस जीवन पर लिखना उन्हें गवारा नहीं था, जो उनका व्यक्तिगत अनुभव न हो। यह उनके इस दृष्टिकोण और आत्म-निषेध की जबरदस्त शक्ति का ही परिणाम था कि अपने नाटक के कई-कई प्रारूप तैयार करने के बाद ही वे उसे अंतिम रूप देते थे और अपने जीवनकाल में वे सिर्फ तीन पूर्णकालिक नाटक और एक अधूरे नाटक की ही रचना कर सके। अपनी मृत्यु से ठीक पहले भी वे 'पैर तले की जमीन' नाटक को सँवारने में लगे थे। इस नाटक की कई रद्द की हुई पंक्तियाँ और संवाद भी प्राप्त हुए हैं, जो रचना के प्रति नाटककार के गहरे लगाव एवं आस्था को प्रदर्शित करते हैं। दरअसल नाट्य रचना राकेश के लिए महज जीविकोपार्जन या मनोरंजन का माध्यम नहीं, बल्कि उनकी जीवन-प्रक्रिया थी। अपने समय और समाज के साथ निरंतर संवाद और रचना-कर्म के प्रति संपूर्ण समर्पण (Total Commitment) ही वे विशेषताएँ हैं, जिनसे राकेश के रचनात्मक व्यक्तित्व का निर्माण हुआ है। यही कारण है कि कतिपय त्रुटियों और सीमाओं के बावजूद राकेश ने अपने साढ़े तीन नाटकों से जो उपलब्ध किया है, वह अद्वितीय है। इन नाटकों ने देशव्यापी बहुसंख्यक एवं वैविध्यपूर्ण प्रदर्शनों से न केवल हिन्दी रंगादोलन को अभूतपूर्व गति प्रदान की है, बल्कि भारतीय नाट्य परंपरा में हिन्दी रंगकर्म को महत्वपूर्ण स्थान पर भी प्रतिष्ठित किया है। इस संबंध में प्रख्यात नाट्य समीक्षक श्री नेमिचन्द्र जैन की टिप्पणी उल्लेखनीय है :

"यह उनके व्यक्तित्व का प्रभाव या मित्रों की साजिश नहीं है कि देश के चार प्रमुख भारतीय नाटककारों में राकेश भी एक हैं। यह उनके कृतित्व की शक्ति का ही स्वाभाविक परिणाम है।"[5]

हिन्दी रंग-परिदृश्य पर राकेश के आगमन के समय रंगमंच पर प्रभुत्व अंग्रेजी प्रिय रंगकर्मियों और अधिकारियों का था। वे हिन्दी भाषा और उसके नाटकों को हेय दृष्टि से देखते थे। अपने प्रभावशाली व्यक्तित्व और श्रेष्ठ रचनाओं के माध्यम से राकेश ने पहली बार यह अहसास कराया कि हिन्दी नाटकों को मंचित किए बिना भारतीय नाट्य परंपरा का सम्यक् प्रतिनिधित्व नहीं हो सकता। लगभग यही स्थिति बांगला, कन्नड़, मराठी जैसे समृद्ध नाट्य परंपरा वाले रंगकर्मियों की भी थी। इन भाषाओं में मंचित होनेवाले हिन्दी नाटकों की संख्या नगण्य थी। पहली बार राकेश के नाटकों ने एक सम्मानपूर्ण आदान-प्रदान की प्रक्रिया आरंभ की तथा उनके नाटक सभी महत्त्वपूर्ण भारतीय भाषाओं में मंचित होकर चर्चित और लोकप्रिय हुए। इस तरह उनके नाटकों ने हिन्दी रंगकर्म और नाटककार को एक विशिष्ट प्रतिष्ठा और मर्यादा प्रदान की। दरअसल आधुनिक हिन्दी रंगादोलन के उद्भव और विकास में राकेश के

नाटकों ने ऐतिहासिक भूमिका का निर्वाह किया है। यही कारण है कि देश के सभी महत्त्वपूर्ण निर्देशक एवं रंगकर्मी उनके नाटकों से कभी न कभी अवश्य जुड़े रहे हैं। अपनी कतिपय सीमाओं के बावजूद इन नाटकों ने हिन्दी में एक नया दर्शक वर्ग तैयार किया तथा हिन्दी रंगमंच की समर्थता का अहसास कराया। मोहन राकेश के नाटक आज भी हिन्दी रंगकर्मियों के लिए मानदंड की तरह हैं और रंगमंच के क्षेत्र में भाषा, शैली और प्रदर्शन-पद्धतियों के विविध प्रयोगों के बावजूद आज भी हिन्दी नाटक राकेश के स्तर से आगे नहीं बढ़ पाया है।

संदर्भ सूची :

1. मोहन राकेश के संपूर्ण नाटक : श्री नेमिचन्द्र जैन 'भूमिका', पृ.5
2. साहित्य और संस्कृति : मोहन राकेश (डॉ. कार्लो कपोला और मोहन राकेश), पृ. 161
3. उपरोक्त : पृ. 158-59
4. उपरोक्त : पृ. 150
5. मोहन राकेश नाट्य समारोह (3-20 दिसम्बर:1992) की स्मारिका : श्री नेमिचन्द्र जैन : पृ. 22